ओउम्

◄आर्य समाज की स्थापना की पृष्ठ भूमि►

‘यदि आर्य समाज स्थापित न होता तो क्या होता?’

-मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।

इस समय वेद व सृष्टि सम्वत् 1,96,08,53,115 आरम्भ हो रहा है। द्वापर युग की समाप्ति पर लगभग 5,000 वर्ष पूर्व महाभारत का प्रसिद्ध युद्ध हुआ था। इस प्रकार लगभग 1,96,08,48,00 वर्ष पूर्व महाभारत युद्ध तक सारे भूमण्डल पर एक ही वैदिक

धर्म व संस्कृति विद्यमान थी। महाभारत युद्ध से धर्म व संस्कृति का पतन आरम्भ होता है जो अब से 139 वर्ष पूर्व अपनी चरम पर था। इस समय वैदिक धर्म व संस्कृति का मूल स्वरूप अप्रचलित व अज्ञात हो गया था तथा उसके स्थान पर अन्ध विश्वास, कुरीतियां, अज्ञान ने सर्वत्र अपने पैर पसारे हुए थे। निराकार, सर्वव्यापक, सर्वान्तरयामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान व सच्चिदानन्द ईश्वर की उपासना न केवल ऐतिहासिक वस्तु बन कर तिरस्कृत हो चुकी थी अपितु विस्मृत भी कर दी गई थी। **देशवासियों को पता ही नहीं था कि कभी देश के शत-प्रतिशत लोग सृष्टिकर्ता ईश्वर के निराकार व सर्वव्यापक स्वरूप की योग दर्शन की विधि के अनुसार उपासना करते थे, अंहिसात्मक अग्निहोत्र यज्ञ करते थे, जीवित माता-पिता व वृद्धों का श्राद्ध व तर्पण होता था, मांसाहार वर्जित था, मदिरापान बुरा माना जाता था, आज जैसा स्त्री-पुरूषों का फैशन तो कभी इस भारत भूमि पर पूर्व में था ही नही।** जब भारत में पतन की यह स्थिति थी तो इसका प्रभाव सारे विश्व पर पड़ना स्वाभाविक था। कारण यह कि मनुस्मृति के अनुसार यह देश अग्रजन्मा मनुष्यों को उत्पन्न करता था। संसार भर के लोग अपने-अपने लिये धर्म, संस्कृति, चरित्र व ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा लेने इसी देश में आया करते थे। भारत संसार का गुरू था। महाभारत युद्ध के पश्चात जब भारत के लोगों ने विश्व में धर्म-संस्कृति-चरित्र-ज्ञान व विज्ञान की शिक्षा देने के लिए चारों दिशाओं के देशों में जाना बन्द कर दिया या यह कहें कि विदेशों में जाना बन्द हो गया तो वहां घोर अन्धकार फैल गया। ऐसी स्थिति में भारत से बाहर प्रथम पारसी मत का उदय हुआ। इसके प्रचारक व संस्थापक महात्मा जरदुश्त थे। पारसी मत का धर्म पुस्तक जन्दावस्था है। क्या जन्द शब्द छन्द का अपभ्रंस तो नहीं है? जन्दावस्था वेदों से अधिकांशतः प्रभावित है। इसके बाद ईसा का जन्म होने पर उन्होंने अपने प्रयासों से धर्म-संस्कृति का अध्ययन किया, सोचा व विचारा। वह जितना अध्ययन कर सके, उनके अनुरूप उनके शिष्यों द्वारा क्रिश्चियनिटी या ईसाई मत का प्रादूर्भाव हुआ। स्वाभाविक था कि धर्मविहीन हो चुके मनुष्यों को धर्म की आवश्यकता थी। अपनी अज्ञानता के कारण जनसाधारण को जो व जैसा ज्ञान मिला उसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। उस समय वहां के लोगों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह अपनी विवेक बुद्धि का प्रयोग कर सत्य व असत्य को जान पाते। यह मत भी पल्लिवित व पोषित होता रहा। हमें अनुभव होता है कि इस मत ने ईश्वर व जीवात्मा का जो स्वरूप प्रस्तुत किया वह ईश्वर व जीवात्मा के सत्य व यथार्थ स्वरूप से भिन्न है। आज यद्यपि ज्ञान-विज्ञान ने बहुत उन्नति कर ली है, परन्तु धर्म-मत-सम्प्रदायों-मजहबों के सिद्धान्त व मान्यतायें अपरिवर्तनीय बनी हुई हैं, अतः यह वैसी की वैसी हैं। आज कुछ आधुनिकता, ज्ञान की उन्नति व आर्य समाज के वेदों के प्रचार से प्रभावित होकर उनकी तर्क व युक्तियों से युक्त व्याख्यायें करने का प्रयास किया जाता है। यह यद्यपि अच्छा है परन्तु हम अनुभव करते हैं कि सभी मतों व धर्मो की एक-एक बात का बहुत ही गहराई से विचार कर निर्णय करना चाहिये और यदि कोई बात असत्य व अव्यवहारिक सिद्ध हो तो उसे आधुनिक सत्य ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में संशोधित कर लेना चाहिये। अनावश्यक खींच-तान नहीं करनी चाहिये। हमारे वैज्ञानिक लोग भी निरन्तर ऐसा करते आ रहे हैं जिसका परिणाम व प्रभाव यह है कि आज विज्ञान आकाश छू रहा है जो कि 100 या 200 वर्ष पहले अपनी शैशवास्था में था। इसके विपरीत आज विगत 4 से 5 हजार वर्षो में उत्पन्न मत व मतान्तर जहां थे, वहीं के वहीं है। उनमें संशोधन का विचार करना भी पाप व अपराध माना जाता है। महर्षि दयानन्द इस धारणा के विरूद्ध रहे हैं। उन्होंने प्रत्येक बुद्धि के विपरीत बात का संशोधन किया है और **आज का वैदिक धर्म शायद् संसार के बनने के बाद से इस समय सर्वोत्तम मान्यताओं व सिद्धान्तों से समन्वित है।** भ्रम न हो इस लिये यह कहना है कि हमारे देश में महाभारत काल तक ऋषियों की परम्परा रही है। हमारे ऋषि अवैदिक कार्यो का आरम्भ से ही विरोध करते रहे हैं। **परन्तु कितना भी करें कहीं कुछ थोड़ा ऐसा हो जाता है जो सिद्धान्त के पूर्णतः अनुकूल नही होता।** उसका कारण उसका व्यवहार करने वाले लोगों का अज्ञान व किंचित स्वार्थ भी होता है। समय का चक्र चला और अरब कहलाने वाले देशों में मक्का नामक स्थान पर मोहम्मद साहब से इस्लाम मत अस्तित्व में आया जो समय-समय पर उनके अनुयायियों के अंहिसा व हिंसा समन्वित प्रचार से विश्व के अनेक स्थानों पर फैल गया। यह स्थिति तो भारत से दूर के देशों की रही है। भारत में भी पहले यज्ञों में पशु हिंसा आरम्भ हुई। वर्ण व्यवस्था में गुण, कर्म व स्वभाव से चार वर्ण थे जिनमें एक वर्ण शूद्र था। सबको उन्नति के समान अवसर सुलभ थे। छुआ-छुत व

अस्पर्शयता जैसी सामाजिक बुराई वैदिक काल में नहीं थी। परन्तु मध्य काल में इसका उदय हुआ। इसके कुछ कारण अवश्य रहे होगें। आज सारा विवरण उपलब्ध नहीं है। **इतना ही कह सकते हैं कि जन्म से किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र मान लेने की व्यवस्था वेदों के विरूद्ध होने से गलत थी। इसके साथ ही शूद्रों के प्रति छुआ-छुत का व्यवहार घोर अमानवीय कार्य था व आज भी है यदि कोई ऐसा करता है। ऐसे लोगों का मनुष्य जन्म धारण करना सार्थक व उद्देश्य को पूरा करने वाला नहीं कहा जा सकता।** स्त्री व शूद्रों को वेदाध्ययन से वंचित कर दिया गया। इसका एक कारण यह हो सकता है कि हमारे ब्राह्मण व पण्डित कहलाने वाले वर्ग ने स्वयं तो वेदों व शास्त्रों का अध्ययन करना बन्द कर दिया व दूसरों को भी इसके अधिकार से वंचित कर दिया। ऐसे अनेक कारणों के उत्पन्न होने से भारत में बौद्ध मत व उसके साथ या बाद में जैन मत का प्रादूर्भाव हुआ। इन्होंने न केवल यज्ञों की ही उपेक्षा व विरोध किया **अपितु ईश्वर के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया।** इसके स्थान पर एक अवैदिक कार्य यह प्रचलित किया गया कि इन मतों के आचार्यो ने अपने मान्य पुरूषों की मूर्तियों को बना कर उनकी पूजा व अर्चना आरम्भ कर दी। सस्ता सौदा ज्यादा बिकता है। अतः वैदिक व पौराणिक मत के लोग अपना मत छोड़ कर इन नये नास्तिक व वैदिक परम्पराओं का विरोध करने वाले मतों की ओर दौड़ने लगे जिससे इन नये मतों के अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी और वैदिक व पौराणिक मत के अनुयायियों की संख्या घटने लगी। इसके बाद स्वामी शंकराचार्यजी का समय आता है।

स्वामी शंकराचार्यजी भारत के दक्षिण प्रदेश में जन्में। बहुत कम आयु में ही उन्होंने शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लिया। उनके काल में जैन मत अपना प्रसार प्राप्त कर चुका था। आर्यधर्म व उसका अज्ञान समन्वित रूप अवनत अवस्था को प्राप्त था। उन्होंने सनातन धर्म की जब यह अवस्था देखी तो उनमें भी धर्म रक्षा का भाव आया। उन्होंने जैन मत की मान्यताओं व सिद्धान्तों का अध्ययन किया तो उन्हें सत्य की कसौटी पर असफल पाया। उन्होंने इनके पराभव व आर्यधर्म की उन्नति पर विचार किया। उन दिनों देश की राजधानी उज्जैन में शासन कर रहे राजा जैन मत के अनुयायी थे। उनसे मिलकर उन्होंने उन्हें अपनी मान्यताओं व सिद्धान्तों का परिचय कराया और उन्हें समझाया कि राजा का कर्तव्य है कि वह सत्य धर्म की उन्नति के लिए विद्वानों में शास्त्रार्थ की व्यवस्था करें और जो मत शास्त्रार्थ में सत्य सिद्ध हो उसे स्वयं भी स्वीकार करें और प्रजा से भी कराये। **राजा सुधन्वा** उनके विचारों से सहमत हो गये, शास्त्रार्थ हुआ। जैन मत पराजित हुआ तथा स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतमत विजयी रहा। राजा ने अपना कर्तव्य मानकर जैन मत को छोड़कर स्वामी शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित आर्य धर्म के उनके अद्वैत-स्वरूप को स्वीकार किया। उसके बाद देश भर मे बौद्ध व जैन मत पराभूत हुआ और एकेश्वरवाद का प्रतिपादक अद्वैत मत प्रवर्तित हुआ। स्वामीजी ने देश के चारों दिशाओं में धर्म प्रचारार्थ चार मठ स्थापित किये जो आज भी संचालित है। इस घटना के बाद बौद्ध व जैन मत के प्रभाव व जनसामान्य की अविवेकपूर्ण रूचि के अनुसार तथा स्वामी शंकराचार्य जी के समान गम्भीर विद्वानों व प्रचारकों की अनुपस्थिति के कारण मूर्तिपूजा आदि अवैदिक मान्यताओं से युक्त आर्यधर्म प्रचलित रहा व इसमें दिन-प्रतिदिन अन्धविश्वास व पाखण्डों की वृद्धि होती रही। इसके बाद के समय में मूर्ति पूजा को महिमामण्डित करने के लिए पुराणों की रचना भी हुई और देश वेद के सत्य मार्ग से हट कर मूर्तिपूजा, फलित ज्योतिष, मृतक श्राद्ध, अस्पर्शयता, बाल विवाह, बेमेल विवाह, मांसाहार, मदिरापान जैसी अनेक बुराईयों का प्रचलन होकर समाज दिन प्रतिदिन अवनति को प्राप्त होता रहा। इस सबके परिणाम स्वरूप 8-वीं शताब्दी में पहले भारत यवनों का व बाद में अंग्रेजों का गुलाम बना। इन दिनों भारत में आर्य धर्म के अनुयायियों का न धर्म सुरक्षित रहा न मान-मर्यादा और न आत्म-सम्मान ही। इतनी जलालत देखनी पड़ी की जलालत को भी शर्म आ जाये। इन सभी विदेशी विधर्मी लोगों ने जो कुछ किया वह मानवता के विरूद्ध था तथा अपवादों को छोडकर, पाशविक प्रवृति के अमानवीय कार्यों की श्रेणी में आता है।

अंग्रेजों ने भारत को स्वतन्त्रता अपनी इच्छा से प्रदान नहीं की। भारत को स्वतन्त्र करना उनकी मजबूरी थी। आज भी उन्होंने कुछ थोड़े से देशों को गुलाम बना रखा है, ऐसी जानकारी नैट पर उपलब्ध है। वह कौन सी मजबूरी है जिस कारण अंग्रेजों को भारत को स्वतन्त्र करना पड़ा तो हमें लगता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामों के कारण उनको भारत से जाने का निर्णय करना पड़ा। नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने भी कम चुनौती नहीं दी। हमारे क्रान्तिकारियों ने भी अंग्रेजों की नींद हराम कर रखी थी। वह जान चुके थे कि अंहिसात्मक आन्दोलन का सीमित प्रभाव है परन्तु क्रान्तिकारी तो उनके बड़े-बड़े अधिकारियों तक के प्राण ले रहे थे। हमें लगता है कि इंग्लैण्ड व भारत के बीच की जो दूरी थी और समुद्री मार्ग में जो कठिनाईयां होती हैं वह भी एक कारण हो सकता है। हमारी सेनाओं में भी आजादी की भावना व विचार घुस चुके थे। सैनिक व सिपाही मंगल पाण्डे का उदाहरण तो सामने है ही। हमें लगता है कि भविष्य में अंग्रेजों को भारतीय सेना के जवानों से भी खतरा नजर आता था। अंहिसात्मक आन्दोलन से भी उन्हें किंचित कष्ट तो होता ही था परन्तु यह सीमित व अधिक विचलित करने वाला नहीं था। अंग्रेज यह भी जानते थे कि गांधीजी जब तक हैं तब तक ही शायद अंहिसा की नीति पर भारत चल रहा है, बाद में क्या होगा इसके प्रति अंग्रेजों में अनिश्चितता थी और वह इससे परेशान थे। अंग्रेजों को सम्भवतः लगा कि वह समय ही उनके लिए उपयुक्त है। बाद में यदि परिस्थितियां खराब होगीं तो उन्हें छोड़ना तो पड़ेगा परन्तु शायद वह उनके लिए अधिक दुःखदायी हो। आजादी के आन्दोलन की दोनों धाराओं, क्रान्ति व शान्ति या

अंहिसात्मक, को पोषण आर्य समाज से ही मिला। सबसे पहले स्वतन्त्रता व आजादी का विचार कहां से आया तो इसके लिए महर्षि दयानन्द के साहित्य में अनेक उल्लेख मिलते है। **सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम् समुल्लास** का उल्लेख कि **'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय व दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।'** यह वाक्य स्वामी दयानन्द ने कांग्रेस की स्थापना से 10 वर्ष पूर्व सन् 1875 में सत्यार्थ प्रकाश में लिखे थे। इसके अतिरिक्त सत्यार्थ प्रकाश में अन्य स्थानों पर, उनके अन्य ग्रन्थों यथा आर्याभिविनय, संस्कृत वाक्य प्रबोध आदि में भी स्वदेशीय राज्य का मार्मिक शब्दों में उल्लेख किया गया है। हमें लगता है कि महर्षि दयानन्द के यही शब्द भावी स्वतन्त्रता आन्दोलन के सूत्र वाक्य या आधार स्तम्भ बने। स्वामी दयानन्द की देश भक्ति का एक पहलू यह भी है कि वह सन् 1824 में अपने जन्म से लेकर सन् 1857 की प्रथम क्रान्ति तक का उल्लेख तो करते हैं, परन्तु सन् 1857 से कुछ पहले व 1860 तक का विवरण अपने अनुयायियों को नहीं बताते। **सत्य कुछ भी हो परन्तु यह रहस्यमय है।** 1857 में अपनी भूमिका या अन्य कार्यो का विवरण न देना रहस्य को जन्म देता है। न बताने के पीछे का कारण भाग लेना हो सकता है। यदि न लेते तो वह विवरण अवश्य देते जिसका कारण कि उन्होंने उससे पूर्व व पश्चात का विवरण दिया है। सन् 1857 में महर्षि दयानन्द 33 वर्ष के युवा थे। ऐसे युवक थे जो विगत 15 वर्षों से देशभर में घूम कर साधु-संन्यासी-योगी-विद्वानों को ढूंढ रहा था, उनसे ज्ञान प्राप्त कर रहा था तथा देश की स्थिति को देख रहा था। **क्या ऐसा व्यक्ति देशभक्ति के कार्यो से दूर या उदासीन रह सकता है, हमारा अनुमान है कि कभी नहीं?** किसी भी क्रान्तिकारी ने अंग्रेजों के शासनकाल में अपने कार्यो का विवरण नहीं दिया। विवरण न देने से कोई क्रान्तिकारी, क्रान्तिकारी नहीं रहता, ऐसा कोई स्वीकार नहीं करेगा। इससे स्वामी दयानन्द के एक देशभक्त व क्रान्तिकारी या उनका सहयोगी या फिर उनके प्रति सहानुभूति रखने वाला तो हो ही सकता है। हमें तो यहां तक भी लगता है कि क्रान्ति के गुप्त सूत्रधारों में से कहीं वह एक न रहे हों, इसी कारण वह पर्दे के पीछे रहे और उन्होंने अपने कृत्यों को गुप्त रखा क्योंकि उसका उल्लेख करने का अर्थ था कि उनके जीवन क्रम की समाप्ति। बताया जाता है कि कांग्रेस के इतिहास लेखक श्री सीताभिपट्टारमैया ने लिखा है कि आजादी के आन्दोलन में भाग लेने वाले आर्य समाज के अनुयायियों की संख्या कुल आन्दोलनकारियों की 80 प्रतिशत थी। यदि आर्य समाज की स्थापना न हुई होती तो इन लोगों के आन्दोलन में भाग न लेने से आन्दोलन का प्रभाव उतना ही कम होता फिर स्वतन्त्रता का लक्ष्य पूरा होता या नहीं, कहा नहीं जा सकता। यह भी उल्लेखनीय है कि अंहिसात्मक आन्दोलन के प्रणेता गोपाल कृष्ण गोखले थे। महात्मा गांधी इन्हीं के शिष्य थे। गोखलेजी महादेव रानाडे के शिष्य थे जो कि स्वयं को महर्षि दयानन्द का शिष्य मानते थे और यह सर्वविदित भी था। उपर्युक्त अनेक कारणों से अंग्रेजों ने भारत को छोड़ने का निर्णय किया। 15 अगस्त, 1947 को अंग्रेज भारत का विभाजन कर, उसके दो खण्ड, एक भारत व दूसरा पाकिस्तान, करके अपने देश इंग्लैण्ड रवाना हुए।

आर्य समाज की स्थापना 10 अप्रैल सन् 1875 को मुम्बई में हुई थी। इससे पूर्व ही स्वामी दयानन्द सरस्वती पूरे देश में घूम घूम कर वेद प्रचार कर रहे थे। उन्होंने काशी में मूर्ति पूजा के विरूद्ध वहां के सभी पण्डितों से एक साथ शास्त्रार्थ भी किया था। इस शास्त्रार्थ में विजय से उनकी कीर्ति दिग-दिगन्त फैल गई थी। **उनका पक्ष था मूर्तिपूजा व अन्य उपासनायें सच्ची ईश्वरोपासनायें नहीं है। सच्ची ईश्वरोपासना योग की रीति से ईश्वर के सर्वव्याापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वोपकारक, सर्वान्तरयामी, सच्चिदानन्द आदि असंख्य व अनन्त गुणो वाले सगुण व निर्गुण स्वरूप का ध्यान व चिन्तन करके की जाती है। स्वामी दयानन्द ने सारे संसार को ईश्वर की सच्ची उपासना का ज्ञान व विधि प्रदान की। इस कारण वर्तमान व भविष्य में उनका यह योगदान ऐसा अनोखा कार्य है जिसके लिए सारा विश्व उनका सदा-सदा के लिए ऋणी है और यह कार्य ही उन्हें संसार के सभी धार्मिक महापुरूषों में सबसे बड़ा बनाता है। अग्निहोत्र यज्ञ भी उनकी विश्व को अनुपम देन है। अन्य महापुरूष तो इसके बारे में सोच ही न पाये। पितृयज्ञ, प्राणीयज्ञ व अतिथि यज्ञ भी उनकी ऐसी ही देनें हैं।** उन्होंने वेदों के आधार पर सिद्ध किया वेदों को पढ़ने का आधार सभी स्त्री व पुरूषों वा सभी वर्णों जिसमें शूद्र व अतिशूद्र भी है, को समान रूप से है। यह उनका बहुत बड़ा क्रान्तिकारी विचार था। वेदों के आधार पर ही वह ऊंच-नीच व छुआछूत के भी विरोधी थे। उन्होंने एक बार एक नाई बन्धु द्वारा भोजन के रूप में उन्हें रोटी प्रस्तुत करने पर सहर्ष स्वीकार की और पौराणिक पण्डितों की आपत्तियों का तर्कों के आधार पर खण्डन किया था। उन्होंने विधवाओं को विवाह करने का अधिकार दिया। नारी शिक्षा के वह समर्थक थे। उनके शिष्यों ने देश भर में नारी शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक योगदान किया है। इसी प्रकार से डी.ए.वी. कालेज व गुरूकुल खोलकर भी उनके शिष्यों ने देश को ज्ञान व शैक्षिक योग्यता में स्वावलम्बी व समाज को अज्ञान व अन्धविश्वास से मुक्त करने में भी अग्रणीय योगदान किया। धार्मिक सुधारों के क्षेत्र में तो वह पुरोधा थे। यदि वह न आते तो धार्मिक क्षेत्र में जो सुधार हुआ है, वह कदापि न होता। सनातनी पौराणिक जगत ने तो आज भी अज्ञान, अन्धविश्वास तथा कुरीतियों को अपने गले से लगा

रखा है। जब भी उनको अवसर मिलता है, वह आर्य समाज की आलोचना से बाज नहीं आते। आर्य समाज व महर्षि दयानन्द के विरूद्ध अनेक आधारहीन ग्रन्थ लिखकर भी उन्होंने अपनी खीज पूरी की है। पहले समाज में बाल विवाह व बेमेल विवाह होते थे। स्वामीजी ने बाल विवाह का विरोध किया और युवावस्था में समान गुण, कर्म व स्वभाव वाले युवती व युवक का विवाह करने की मान्यता व सिद्धान्त दिया। आज यह सिद्धान्त व मान्यता स्वतः पल्लिवित व पुष्पित हो रही है। उन्होनें विवाह संस्कार की भी आदर्श वेदोक्त विधि प्रस्तुत की जिसका अनुकरण हमारे आलोचक भी करते हैं। 16 संस्कारों की मान्यता व सिद्धान्त स्वामीजी ने ही दिया है जो आज पौराणिकों में भी प्रचलित हो चुकी है और वह भूल गये हैं कि स्वामीजी से पहले कितने संस्कार हुआ करते हैं। स्वामी दयानन्द जन्म के आधार पर कृत्रिम जाति-पाति के विरोधी थे। वह इसे स्वीकार नहीं करते थे। वह गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित चार वर्णों को मानते थे। चारों वर्णों व किन्हीं दो वर्णों में असमानता उन्हें स्वीकार नहीं थी। पशु-हिंसा व मांसाहार, मदिरापान, धूम्रपान व अण्डे आदि के सेवन को वह अप्राकृतिक व अनुचित मानते थे। उनके समय में इतना अधिक मांसाहार था भी नहीं जितना कि आज है। **वह व्यक्तिगत, समाजिक व राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी व संस्कृत में व्यवहार के पक्ष में थे। इन दोनों भाषाओं को जानकर वह देश व विदेश की आवश्यकता के अनुसार भाषाओं के सीखने के पक्षधर थे। त्रैतवाद अर्थात् ईश्वर, जीव व प्रकृति के अस्तित्व का सिद्धान्त उनकी विश्व को अनुपम व प्रमुख देन है।** ऐसे अनेक कार्य है जो महर्षि दयानन्द ने किए जिनके कारण आज हमारा समाज उन्नति कर सका व उत्तरोतर कर रहा है। यदि आर्य समाज न होता तो हम दावे से कहते है कि सामाजिक असमानता कम न होती। त्रैतवाद अस्तित्व में न आता। शिक्षा का जितना प्रसार आज है न हुआ होता। हो सकता है कि भारत गुलाम होता या फिर कहीं अधिक दुर्दशा को प्राप्त होता। महर्षि दयानन्द अपने समय में भारत व विश्व की सपमि सपदम थे। विश्व का सारा धार्मिक व सामाजिक जगत उनका ऋणी है। उन्होंने बिना अंग्रेजी पढ़े एक सच्चे ईश्वर की उपासना, यज्ञ-प्रेमी, सुशिक्षित, चरित्रवान, दुगुर्णों से रहित, निष्पक्ष एवं न्याय पर आधारित ऐसे विश्व का स्वप्न देखा था जिसमें कोई अज्ञानी न हो, सब विवेकी हों, किसी के साथ अन्याय न हो, किसी का शोषण न हो, कोई अभावग्रस्त न हों, सभी सम्पन्न व समृद्ध हों, सब सत्य मार्ग पर चलें। अपने स्वप्न को क्रियान्वित करने के लिए स्वामी दयानन्द मनसा, वाचा व कर्मणा प्रयत्नशील रहे थे। **सम्भवतः सृष्टि की उत्पत्ति के बाद के 1.96 अरब वर्षो में स्वामी दयानन्द द्वारा किया गया पुनरूद्धाार का कार्य अपने प्रकार की पहली अभूतपूर्व आध्यात्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति थी।**

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना करके देश व विश्व के कल्याण की जो योजनायें दीं व उनके क्रियान्वियन में अपनी भूमिका निभाई है, वह इतिहास में अपूर्व व महवपूर्ण है। आर्य समाज ने उनकी मृत्यु के बाद जो कार्य किया वह भी प्रशंसनीय एवं युगान्तरकारी है। यदि आर्य समाज न होता तो देश शायद् स्वतन्त्र ही न हुआ होता। महर्षि दयानन्द के समय में देश में जो सामाजिक विषमता थी, वह विद्यमान रहती या फिर और बढ़ सकती थी। हिन्दूओं के धर्मान्तरण का विदेशी मतों का कुचक्र जारी रहता और उसे आर्यसमाज से जिस वैचारिक विरोध का सामना करना पड़ा, उसके न होने से आज जनसंख्या के आंकड़े क्या होते, इतना ही कह सकते है कि वह वैदिक धर्मियों व सनातन हिन्दू मत के लिए बहुत दुःखद होते। आर्य समाज ने डीएवी व गुरूकुल शिक्षा आन्दोलन से जो क्रान्ति की थी, उसके न होने से आज देश में शिक्षा की जो स्थिति है, वह अत्यधिक पिछड़ी हुई होती। वस्तुतः आर्य समाज न केवल भारत के लिए अपितु विश्व के लिए एक ऐसी जीवन दायिनी life line सिद्ध हुआ है जिसको अपनाकर धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। यह आज भी प्रासंगिक है और जब तक विश्व में आध्यात्मिक, धार्मिक व सामाजिक अन्धविश्वास, अज्ञान, विषमता, अन्याय, शोषण आदि हैं, आर्य समाज प्रासंगिक है। आर्य समाज की सभी मान्यताओं का आधार सत्य व ईश्वरीय ज्ञान वेद है। विश्व में त्रैतवाद का प्रचार हो, सारी दुनियां उसे स्वीकार करे, सभी मत-सम्प्रदाय मिलकर एक हों जायें और सारे संसार में एक ही उपासना पद्धति विकसित व निर्मित हो, जिसे करके लोगों को ईश्वर का साक्षात्कार हो, विवेक उत्पन्न हो और मानव व प्राणीमात्र सुखी हो, मत-सम्प्रदाय के परस्पर किसी प्रकार के झगड़े व हिंसा की सम्भावना ही न हो, तब तक व उसके बाद भी, आर्य समाज प्रासंगिक रहेगा। आज आर्य समाज को अपने कायाकल्प करने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही हम आगे बढ़कर कुछ कर सकते हैं।

-मनमोहन कुमार आर्य
पताः 196, चुक्खूवाला-2
देहरादून-248001
फोनः 09412985121